Shodh Prabha: A Multidisciplinary Journal
ISSN: 3108-2726 (Online), Volume-2, Issue-4, (July - August) 2026

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में परंपरागत भारतीय राजनीतिक दर्शन एवं मूल्यों की प्रासंगिकता

प्रज्ञा पाराशर
शोधार्थी, राजा महेंद्र प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, अलीगढ

सारांश

दर्शन का अर्थ है जो यथार्थ तत्त्व की अनुभूति कराये अर्थात् जो वस्तु हमारे सामने जैसी दिख रही है, उसके पीछे निहित सत्य का जो उद्घाटन करे, वह दर्शन है और सत्य चूँकि काल-परिस्थितियों से सीमित नहीं होता इसलिए सभी मूल्यों को अपने अंदर समावेशित करने वाला परंपरागत राजनीतिक दर्शन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी आज उतना ही प्रासंगिक है जितना वह पूर्व में था। क्योंकि आदर्शों की प्रासंगिकता का निर्णय तभी हो जाता है जब उनकी सार्थकता व्यवहार के धरातल पर तय की जा चुकी हो और राजनीतिक मूल्यों और आदर्शों को अपने व्यावहारिक जीवन में अभ्यास करने की परम्परा काफी प्राचीन रही है। क्योंकि राज्य की स्थापना से पूर्व व्यक्ति प्रशासन से अधिक आत्मानुशासन से नागरिक समाज का संचालन किया करता था। राज्य की आवश्यकता ही तब अनुभव की गयी जब व्यक्ति के नैतिक मूल्यों का अधःपतन हो गया था। इसका प्रमाण मनु एवं कौटिल्य द्वारा वर्णित मत्स्य न्याय की अवधारणा में मिलता है। यह सत्य है कि हमारे संविधान निर्माताओं ने स्वतंत्रता, समानता, न्याय, बंधुत्व, अधिकार, मानवीय गरिमा जैसे मूल्यों को ध्यान में रखकर अवसंरचनात्मक विकास को प्रोत्साहन दिया। परन्तु वैश्वीकरण की द्रुत गति में स्वयं को अग्रपंक्ति में रखने की अंधाधुंध दौड़ में मनुष्य की पदलोलुपता एवं अवसरवादिता ने लोकतान्त्रिक संस्थाओं की गरिमा को प्रभावित भी किया है। वर्गीय, जातीय, नस्लीय, भाषाई, क्षेत्रीय आदि विभिन्न आधारों पर अप्रतिबंधित अधिकारों की माँग करते-करते वह कर्तव्यों की तिलांजलि भी दे बैठा है। फलस्वरूप राष्ट्र में हिंसा, चोरी, लूटपाट, अपराधीकरण, असुरक्षा, असमानता, अन्याय एवं भय का वातावरण जन्म लेता है। जब इन समस्याओं का स्थानीय स्तर पर समाधान तंत्र उपलब्ध नहीं हो पाता तब ये राष्ट्रीय चुनौतियों में परिवर्तित हो जाती हैं। इसलिए परंपरागत राजनीतिक दर्शन उस लोकतान्त्रिक व्यवस्था में उस सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाली राजशक्ति हो या उस पर संप्रभुता रखने वाली लोकशक्ति हो दोनों को ही संतुलन का सन्देश देता है। परंपरागत राजनीतिक दर्शन मात्र विचार नहीं देता बल्कि व्यवस्था प्रदान करता है। क्योंकि वर्तमान समस्या किसी बाह्य साम्राज्यवाद की नहीं, बल्कि वैचारिक शिथिलता की है जिसमें सतत निगरानी के अभाव में लोकतान्त्रिक चुनौतियों को जन्म देने का कारक बनती है। इस दिशा में परंपरागत राजनीतिक दर्शन एवं मूल्य आज भी प्रासंगिक हैं।

कूटशब्द - दर्शन, नैतिकता, प्रासंगिकता, मूल्य, न्याय, स्वतंत्रता, बंधुत्व

भूमिका - महाभारत के शांतिपर्व की श्लोक संख्या 63;29 में लिखा गया है-

सर्वेत्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः, सर्वादीक्षा राजधर्मेषु योक्ताः ॥

सर्वविद्या राजधर्मेषु युक्ताः, सर्वेलोकाः राजधर्मेषु प्रतिष्ठाः ॥

इसका अर्थ है "राजधर्म में सारे त्यागों का दर्शन होता है, राजधर्म सारी दीक्षाओं का प्रतिपादन होता है, राजधर्म में सम्पूर्ण विद्या निहित होती है, राजधर्म में सारे लोकों का समावेश होता है।" उपनिषदों के अनुसार दर्शन का अर्थ है 'दृश्येते यथार्थ तत्त्वमनेन' अर्थात् जिससे यथार्थ तत्त्व की अनुभूति हो वही दर्शन है। जो वस्तु हमारे सामने जैसी दिख

रही है, उसके कारण के पीछे निहित सत्य को जो उद्घाटित करे उसके वास्तविक लक्ष्यों से जो परिचित कराये वह दर्शन है। यही सन्दर्भ जब राजनीतिक लक्ष्यों एवं राज्य और व्यक्ति के संबंधों पर लागू किया जाता है तो वह राजनीतिक दर्शन कहलाता है। सत्य कभी भी परिस्थितियों से सीमित नहीं होता। वह सार्वभौमिक तथा सर्वकालिक होता है। इस आधार पर सभी मूल्यों एवं आदर्शों को अपने अंदर समावेशित करने वाला परंपरागत राजनीतिक दर्शन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आज उतना ही प्रासंगिक है जितना वह प्रारम्भ में था। यह समाज में रह रहे व्यक्तियों, उनकी प्रकृति, उसका समाज के साथ सम्बन्ध तथा उस समाज को सर्वोत्तम रूप से कैसे व्यवस्थित किया जाये उसका विश्लेषण करता है। इसके अंतर्गत नैतिकता, स्वतंत्रता, न्याय, संपत्ति, अधिकार एवं कर्त्तव्य की धारणा कानून एवं प्राधिकरणों द्वारा उन कानूनों का प्रवर्तन महत्त्व रखता है।

परम्परागत भारतीय राजनीतिक दर्शन एवं मूल्यों का अभिप्राय

आदर्शों की प्रासंगिकता का निर्णय तभी हो जाता है जब उनकी सार्थकता व्यावहारिकता के धरातल पर तय की जा चुकी हो। परंपरागत राजनीतिक दर्शन की परंपरा पर यदि प्रकाश डालें तो इसमें पाश्चात्य राजनीतिक विचारकों जैसे प्लेटो का दार्शनिक राजा का सिद्धांत, अरस्तु का मध्यममार्गी विधिक तंत्र, मैकियावेली का गणतांत्रिक यथार्थवाद, रूसो का सामान्य इच्छा की अभिव्यंजना, कांट का वैश्विक शांतिवाद, स्पिनोजा का तार्किक अहमवाद, लॉक का अनुबंधवाद, बेन्थम का उपयोगितावाद जैसे विचारों की महान परंपरा शामिल है जिसके माध्यम से एक राजनीतिक समाज में राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों को तय किया जाता है परन्तु पाश्चात्य विचारकों ने जहाँ बाहरी परिस्थितियों में परिवर्तन पर बल देते हुए राजनीतिक लक्ष्यों पर विचार देते हैं और स्वतंत्रता, समानता, शक्ति, कानून, लोकतंत्र, अधिकार एवं मानवीय गरिमा की परिभाषाएँ देते हैं। वहीं भारतीय राजनीतिक चिंतन परंपरा में अन्तःचेतना के परिष्करण पर बल देते हुए सत्य, अहिंसा, उदारता, समरसता, सहिष्णुता, त्याग, तप, निर्भयता, सच्चरित्रता, ईमानदारी, कर्मठता, श्रमजीविता, संकल्पशीलता, क्षमा, दयालुता एवं औचित्यता आदि साधनों के द्वारा व्यवस्था के प्रबंधन का विचार देते हैं ताकि राजनीतिक समाज में स्वतंत्रता, समानता, न्याय, बंधुत्व, मानवीय गरिमा जैसे लक्ष्यों को स्थायी रूप से संभव बनाया जा सके और एक प्रगतिशील समाज की स्थापना की जा सके। जहाँ प्रतिरोध की कोई सम्भावना न हो।

इन आदर्शों और राजनीतिक मूल्यों को राजनीतिक जीवन में निर्वहन करने की हमारी परंपरा बहुत प्राचीन है। जैसे ऋग्वेद की एक ऋचा में गणतांत्रिक भावना को प्रस्तुत करते हुए लिखा गया है 'तुम्हारे उद्देश्य एक हों, तुम्हारे विचार एक हों। ताकि तुम सब पूरी तरह एकता के सूत्र में बंध जाओ। यह विचार ऋग्वैदिक काल, उत्तर वैदिककाल, मौर्य, गुप्त, शुंग, वर्धन आदि विभिन्न कालों में देखने को मिलता है जिसके प्रमाण हमारे धर्मग्रंथों, उपनिषदों, पुराणों, बौद्ध जैन धर्मग्रंथों, स्मृतियों, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, कामंदक का नीतिसार, शुक्रनीति, कल्हण की राजतरंगिणी, बाण का हर्षचरित, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, कालिदास का मालविकाग्निमित्र, सोमदेव का कथासरित्सागर आदि ग्रंथों में इसके प्रमाण मिलते हैं क्योंकि राज्य की स्थापना से पूर्व व्यक्ति प्रशासन से कम और आत्मानुशासन से समाज को संचालित करता था यानि न्यूनतम शासन की परम्परा पाई जाती थी। राज्य की आवश्यकता ही तब अनुभव की गयी जब व्यक्ति के नैतिक मूल्यों को अधःपतन हो गया था। मनु के अनुसार,

अराजके हि लोके अस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्।

रक्षार्थं सर्वस्य राजानाम् सृजतप्रभु ॥

अर्थात् अराजकता की स्थिति के कारण संसार में सभी लोग भय के कारण इधर-उधर भाग रहे हैं तब उसके द्वारा इन सभी की रक्षा के लिए राजा का सृजन किया गया। इसी तरह कौटिल्य मत्स्य न्याय की अवधारणा को रेखांकित करते हुए कहते हैं "अत्यधिक जनसंख्या और संपत्ति के उदय होने पर जिस तरह बड़ी मछली छोटी मछली को निरंतर अपना आहार बना लेती है उसी प्रकार उस युग में सबल पुरुष निर्बल पुरुषों को निरंतर कष्ट दे रहे थे" अतः राज्य की उत्पत्ति का अन्तर्निहित उद्देश्य व्यक्ति के उस खोये हुए मानवतावादी भूमिका की पुनः स्थापना हेतु उचित दशाओं की उपलब्धि करना है जिसमें विभिन्न जातियाँ एवं समूह राष्ट्रहित से एकीकृत हो सकें। अतः परम्परागत राजनीतिक परंपरा में इस बात पर बल दिया गया की व्यक्ति अपने सभी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक संबंधों का संचालन आंतरिक नैतिक प्रेरणा के आधार पर करे जो मूल्यों पर आधारित हो ताकि वह संतुलन बनाकर चले। परंपरागत भारतीय राजनीतिक दर्शन में निम्नलिखित तात्विक गुणों पर बल दिया गया है जो किसी भी मानव-जाति के समाज को शांतिपूर्वक एवं व्यवस्थित संचालन के लिए आवश्यक बताये गये हैं –

व्यक्तिगत मूल्य- सत्य, शांति एवं अहिंसा, नैतिकता, सच्चरित्रता, अपरिग्रह, सहिष्णुता एवं शुचिता।

संस्थागत मूल्य –

- स्वतंत्रता - अंतःकरण की स्वतंत्रता, विचार की स्वतंत्रता, राजनीतिक स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता
- समानता – राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक समानता
- अखंडता एवं एकीकरण – सांस्कृतिक एकीकरण, क्षेत्रीय एकीकरण, आध्यात्मिक एकीकरण
- न्याय – राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक न्याय
- स्थानीय स्वशासन एवं विकेंद्रीकरण - पंचायती राज की स्थापना
- महिला सशक्तिकरण – महिला को शिक्षा, सम्पत्ति एवं कार्य का अधिकार
- लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना
- अधिकार एवं कर्तव्यों के मध्य समन्वय

राजधर्म की अवधारणा

हमारे पारंपरिक राजनीतिक आदर्शों में राजनीति शब्द के स्थान पर 'राजधर्म' शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि कानून के पीछे बल और भय निहित है जो बाह्य सत्ता पर आधारित है अतः उसका उल्लंघन संभव है लेकिन धर्म, जो 'इति धार्यते सः धार्यते'अर्थात् जो धारण किया जाये वह धर्म है; इसलिए जो वस्तु या नियम स्वेच्छा से धारित किया जाये उसे शरीर से सरलता से विलग नहीं किया जा सकता क्योंकि वह अंतः करण की आज्ञा का पालन करता है। इसी के लिए धर्म शब्द की रचना की गयी जिसे आंतरिक प्रेरणा पर आधारित सम्पूर्ण मानवता को एकीकृत पथ पर चलने की प्रेरणा देने वाले चिंतन की संज्ञा दी गयी ताकि यदि पुनः वैचारिक अराजकता की स्थिति आए तो मूल्यों की आधारशिला पर राजनीतिक समाज अपना अस्तित्व कायम रख सके। स्वामी विवेकानन्द धर्म को प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं "धर्म न तो पुस्तकों में निहित है न ही तार्किक विचारों में ये सब धर्म के सहायक साधन हैं इसका अर्थ है ईश्वर तथा आत्मा की प्रकृति का ज्ञान और उन उपायों का अवलंबन जो हमें मुक्ति दिलाते हैं।" तिलक के अनुसार 'धर्म का अर्थ है बंधन, यानी मनुष्य को मनुष्य से बंधना ही धर्म है।" परम्परागत दर्शन में धर्म और दंड पर दोनों को परस्पर पूरक बताया गया।

परम्परागत राजनीतिक दर्शन में राजनीति का अभिप्राय

परंपरागत राजनीतिक दर्शन में राजनीति को "सर्वोच्च गतिविधि "की संज्ञा दी गयी है इसका कारण है कि राजनीति शासन व्यवस्था के अन्तर्गत होने वाले सभी क्रियाकलापों, चाहे आर्थिक हों, शैक्षिक हों, सामाजिक हों, या सांस्कृतिक सभी के कार्यों से अन्तर्संबद्ध भी होती है और उन्हें निर्देशित तथा प्रभावित भी करती है। महादेव गोविन्द रानाडे ने 1897 में अपने नागपुर भाषण में कहा था कि "यदि आप राजनीतिक क्षेत्र में निम्न स्तर पर हैं तो आप अच्छी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना नहीं कर सकते और यदि आपकी सामाजिक व्यवस्था विवेक और न्याय पर आधारित नहीं है तो आपकी आर्थिक व्यवस्था भी अच्छी नहीं हो सकती।" इसीलिए जिस पर सबके संचालन की जिम्मेदारी होती है उसका स्वयं में नैतिक होना अत्यंत आवश्यक है।" इसीलिए गोपाल कृष्ण गोखले, महात्मा गाँधी, महर्षि दयानंद एवं महर्षि अरविन्द आदि ने राजनीति के आध्यात्मिकरण पर बल दिया था क्योंकि राजनीति सर्वोच्च शक्ति का परिचायक है और जिसका सत्ता पर अधिकार होता है उसका ही समाज पर अधिकार होता है। इसलिए लोकतान्त्रिक व्यवस्था में उस सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाली राजशक्ति हो या उस पर संप्रभुता रखने वाली लोकशक्ति हो, दोनों का संतुलित होना परंपरागत राजनीतिक दर्शन में सदैव आवश्यक बताया गया है। इसलिए वर्तमान परिप्रेक्ष्य में परंपरागत राजनीतिक मूल्यों का महत्व इसीलिए बढ़ जाता है क्योंकि यह हर उस पहलू पर एक विचार प्रदान करता है जिसकी आज महती आवश्यकता है।

वर्तमान में राजनीतिक समाज की प्रमुख समस्याएं एवं चुनौतियाँ –

निश्चय ही संविधान निर्माताओं ने स्वतंत्रता, समानता, न्याय, बंधुत्व आदि मूल्यों को संविधान में स्थान देते हुए परंपरागत राजनीतिक दर्शन की चेतना को जीवित रखने का कार्य किया और विभिन्न लोकतान्त्रिक संगठनों का गठन करके इन्हें संभव बनाने का पुरजोर प्रयास भी किया। परिणामस्वरूप आज भारत विश्व में लोकतंत्र की जननी के रूप में सम्मानित स्थान रखता है। लेकिन वर्तमान में वैश्वीकरण की द्रुत गति में स्वयं को अग्रपंक्ति में रखने की अंधाधुंध दौड़ में व्यक्ति, अप्रतिबंधित अधिकारों की लालसा में, व्यक्तिगत कर्तव्यों को तिलांजलि दे बैठा है जिस गति से जनसंख्या वृद्धि हो रही है उसी गति से व्यक्ति की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएँ भी बढ़ रही हैं जिसकी पूर्ति का माध्यम व्यक्ति ने तंत्र को ही बना लिया है। भविष्य में आने वाली इस समस्या की जड़ को पहचानते हुए डॉ अंबेडकर ने 26 नव.1949 संविधान निर्माण के समय ही इसके कारण को परिभाषित करते हुए यह विचार व्यक्त किया था "यदि नए संविधान के अंतर्गत चीजें ठीक ढंग से कार्य न करें तो इसका यह अर्थ नहीं कि संविधान बुरा है हम यही कह सकते हैं कि मनुष्य पतित है।" उनके इस कथन के बाद वर्तमान राजनीतिक समाज की व्यवस्था को समग्र रूप से देखते हुए इसी सन्दर्भ में ही परंपरागत राजनीतिक मूल्यों की महत्ता बढ़ जाती है

ऑक्सफाम की वार्षिक समानता की रिपोर्ट के अनुसार, भारत के सबसे अमीर व्यक्तियों के पास देश की कुल सम्पत्ति का 40% से भी अधिक हिस्सा है जबकि नीचे की आधी आबादी के पास कुल संपत्ति का केवल 3% हिस्सा है। केंद्रीय सतर्कता आयोग की रिपोर्ट के अनुसार, तमाम सरकारी प्रयासों के बावजूद भी सभी प्रकार के कार्यालयों में वर्तमान में करीब 1 लाख 15203 भ्रष्टाचार की शिकायतों को दर्ज किया गया है जिसमें 86437 शिकायतों का निस्तारण किया गया है। असीमित संपत्ति की इस लालसा का परिणाम राष्ट्रीय समस्याओं, जैसे खाद्य असुरक्षा, कुपोषण, निर्धनता, बेरोजगारी, कालाबाजारी, नशावृत्ति, अपराधीकरण, मानव असमानता आदि के रूप में सामने आता है। यदि न्यायिक ढांचे पर नजर डालें, एकीकृत प्रबंधन व्यवस्था की ताजा रिपोर्ट के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय में करीब 96000 मामले आज भी लंबित हैं। राष्ट्रीय न्यायिक डाटा ग्रिड के अनुसार, उच्च न्यायालयों एवं जिला न्यायालयों में क्रमशः

12,28,353 एवं 43 लाख मामले लंबित हैं। इन क़ानूनी औपचारिकताओं के कारण विलंबित न्याय पद्धति ने समाज में अराजकता को जन्म देने में बड़ी भूमिका निभाई है। इसीलिए वर्तमान में व्यक्ति वैचारिक सहिष्णुता और समन्वयात्मकता का परिचय न देकर आन्तरिक विवादों को सुलझाने हेतु हिंसा, चोरी, लूटपाट आदि अपराधों को जन्म देकर दुर्बल लोगों के लिए भय और संत्रास का वातावरण निर्मित करता है।

जब इन व्यक्तिगत चुनौतियों का स्थानीय स्तर पर उचित समाधान तंत्र उपलब्ध नहीं हो पाता तो ये राष्ट्रीय चुनौतियों में तब्दील हो जाती हैं। बस इसका स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है कभी वह जातिवाद आधारित हिंसा के रूप में जैसे किल्वेंमनी हत्याकांड, मिराज हिंसा (2009), मुजफ्फरनगर हिंसा (2013), भीमा कोरेगाँव संघर्ष (2018), धर्मपुरी हिंसा (2012), में दिखाई देता है जिनमें हजारों लोग घायल हुए। इसी तरह कभी वह सांप्रदायिक घटनाओं के रूप में दिखाई दी जैसे कंधमाल हिंसा (2008), वड़ोदरा दंगे (2006), नूह में साम्प्रदायिक हिंसा (2023), पुणे हिंसा (2014) का ताजा उदाहरण भी उपलब्ध है जिनसे सार्वजनिक एवं मानव संपत्ति को नुकसान पहुंचा था। इसी तरह सामुदायिक हिंसा के नाम पर मणिपुर हिंसा में भी मानवता को शर्मसार किया गया। इसी तरह कभी क्षेत्रवादी अतिवादिता के नाम पर असम से बोडोलैंड, पूर्वोत्तर से गोरखालैंड, कश्मीर से अलगाववाद, पंजाब से खालिस्तान आदि माँगें न केवल राष्ट्रीय अखंडता के लिए घातक सिद्ध होती हैं अपितु अंतर्राष्ट्रीय विध्वंसक शक्तियों द्वारा आंतरिक राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर भी प्रदान करती हैं। दिसम्बर 2014 में बोडो उग्रवादियों द्वारा असम के 20 आदिवासियों की हत्या कर दी गयी थी। अप्रैल 2023 में नक्सलवादी हमले में छत्तीसगढ़ के दंतेवाड़ा में 10 भारतीय जवान शहीद हो गए। चाणक्य ने राजनीतिक समाज में शांति हेतु दंड की व्यावहारिकता पर टिप्पणी करते हुए अर्थशास्त्र में स्पष्ट लिखते हैं कि 'सर्वो दंडजितोलोको दुर्लभो ही शुचिरनरः ' अर्थात्; "सब लोग दंड के नियंत्रण में रहते हैं क्योंकि सच्चरित्र मनुष्य दुर्लभ हैं"। मनुस्मृति में भी लिखा गया है कि "न्याय की अवहेलना नहीं करनी चाहिए वरना अन्याय हम सभी का नाश कर देगा।"

इन सब के मूल कारणों का अगर अध्ययन करें तो एक प्रकार का अलोकतांत्रिक वैचारिक साम्राज्यवाद ही है जिसमें अंतर्राष्ट्रीय भ्रामक प्रेरणाओं के माध्यम से देश में राष्ट्रद्रोही गतिविधियों को प्रोत्साहन दिया जाता है। फलस्वरूप आज कोई भी नागरिक अपने अधिकारों की माँग राष्ट्रीयता के आधार पर न करके क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिकता, जातीयता, भाषा, नस्लीयता के आधार पर करता है जिससे राष्ट्र के प्रति कर्तव्यों की उपेक्षा स्वतः ही हो जाती है।

संस्थाओं की औचित्यता का ज्ञान न होने पर साधनों का विचलन स्वाभाविक हो जाता है और संवैधानिक संस्थाएँ व्यक्ति के विकास का साधक बनने की जगह स्वार्थपरता और भ्रष्टाचार की शिकार हो जाती हैं जैसे वर्तमान में स्पष्ट चुनावी नैतिक मानदंडों के अभाव में चुनावी राजनीति अपने-अपने स्वार्थों को पूरा करने का एक माध्यम बन जाती है। फलस्वरूप चुनावी भ्रष्टाचार प्रचार के माध्यम से अपव्यय, अस्थायी गठबन्धनों का उदय, विधायकों की खरीद-फरोख्त चुनावों में वैदेशिक कंपनियों का निवेश, अभद्र राजनीतिक प्रचार जैसी चुनौतियाँ सामने निकलकर आती हैं जिससे नीतियों को प्रभावित किया जाता है। एडीआर की रिपोर्ट के अनुसार, 1980 के दशक से प्रारम्भ हुई आपराधिक राजनीति के कारण 2004 में करीब 24% सांसदों पर आपराधिक मामले लंबित थे; आज करीब 44% सांसद एवं देश के कुल विधायकों का लगभग 45% भाग आपराधिक मामलों से घिरा हुआ है। चुनाव आयोग ने ऐसे करीब 2000 गैर-मान्यता प्राप्त दलों को आयकर छूट कानून का दुरुपयोग करने के चलते इनका पंजीकरण रद्द करने की शक्ति की माँग भी की है। इसीलिए स्वामी विवेकानंद, दयानंद, गाँधी, जयप्रकाश नारायण आदि ने दलविहीन व्यवस्था का समर्थन किया था। गाँधी जी ने संसदात्मक व्यवस्था को वैश्या की संज्ञा दी साथ ही मत प्रचार द्वारा नहीं बल्कि सेवा द्वारा प्राप्त करने का समर्थन किया क्योंकि साधनों की नैतिकता से साध्यों की परिणति के बारे में पूर्वानुमान लगाया जा सकता है।

इसी के साथ ही परम्परागत राजनीतिक व्यवस्था में संचालन हेतु निचले स्तर की इकाइयों के माध्यम से नागरिकों की प्रत्यक्ष सहभागिता पर बल दिया जाता था क्योंकि इससे नागरिक समाज के अंदर न केवल व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है बल्कि साधनों के वितरण की प्राप्ति का हिस्सा मात्र बनने के स्थान पर उनके उत्पादनकर्ता की भूमिका को निभाने की क्षमता आम जनमानस में जन्म लेती है और तंत्र पर निर्भरता का भाव समाप्त होता है। गाँधी ने स्पष्ट कहा था "ग्राम स्वराज को इतना आत्मनिर्भर बना देना है वे किसी भी निर्माण की वस्तु के लिए पड़ोस पर निर्भर न रहें।" जयप्रकाश नारायण की पंचस्तरीय सरंचना, लोहिया का चौखम्भा राज्य आदि भी इनका ही समर्थन करते हैं। परंतु हकीकत में स्थानीय स्वशासन में जहाँ कई क्षेत्रों में वर्षों से स्थानीय चुनाव भी नहीं हुए। वहीं वित्तीय संसाधनों के संकट का सामना करने के कारण मूलभूत सुविधाओं के लिए शहरी पलायनवाद की ओर उन्मुख हैं। यूएन की नवीनतम रिपोर्ट के अनुसार, 2050 तक भारत की आधी आबादी महानगरों में रहने लगेगी।

गाँधी कहते थे कि "यदि सत्य, अहिंसा, सहिष्णुता और नैतिकता की दृष्टि से देखा जाये तो महिलाएँ पुरुषों से बेहतर सुशासन स्थापित कर सकती हैं।" इसी तरह स्थानीय स्वशासन में महिलाओं का 50% आरक्षण होने के बाद भी प्रतिनिधित्व स्तर तुलनात्मक रूप से कम है। 2019 के लोकसभा चुनाव में जहाँ महिलाओं के मतदान प्रतिशत में 67.18% की बढ़ोतरी दर्ज की गयी जो सराहनीय है लेकिन महिला आरक्षण विधेयक को पारित कराने में इतने लम्बे संघर्ष का सामना करना पड़ा जिसके कारण महिला हित के मुद्दों को प्रकाश में लाने के लिए महिला प्रतिनिधित्व की कमी देखी गयी। फलस्वरूप वर्तमान में एनसीआरबी की रिपोर्ट के अनुसार हर साल महिला अपराध से जुड़े लगभग साढ़े चार लाख मामले दर्ज होते हैं। राष्ट्रीय महिला आयोग की रिपोर्ट के अनुसार 2022 में करीब 6970 शिकायतें घरेलू हिंसा की दर्ज हुई हैं।

इसके अलावा भी ऐसी बहुत सी राजनीतिक समस्याएँ मौजूद हैं जिनके निदान हेतु परम्परागत राजनीतिक दर्शन प्रासंगिक प्रतीत होता है क्योंकि परम्परागत राजनीतिक दर्शन एवं मूल्यों में व्यवस्था के हर उस भाग के बारे में विचार दिया गया है जिससे किसी भी देश की प्रगति तय होती है। राजा राममोहन राय फ्रांस के विदेश मंत्रालय को लिखे पत्र में लिखते हैं कि 'सम्पूर्ण मानवजाति एक परिवार है जिसके अनेक राष्ट्र और प्रजातियाँ इसकी शाखा मात्र हैं।' इसी तरह स्वामी विवेकानन्द भी कहते हैं कि "आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति अपने अहं को राष्ट्र की आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित कर ले।" परंपरागत राजनीतिक दर्शन संगठनों के मध्य समन्वय पर बल देता है इसीलिए विचारों के मध्य सामंजस्य हेतु परम्परागत राजनीतिक दर्शन में अध्यात्मवाद और राष्ट्रवाद पर बल दिया गया क्योंकि ये व्यक्ति को व्यष्टि से समष्टि की ओर ले जाते हैं।

निष्कर्ष-

बाल गंगाधर तिलक कहते हैं कि "सच्चा राष्ट्रवादी वही है जो पुरातनता की नींव पर राष्ट्र का निर्माण करता है।" परम्परागत राजनीतिक दर्शन मात्र विचार नहीं देता बल्कि एक व्यवस्था भी प्रदान करता है और किसी भी विकसित देश का मार्ग व्यवस्था से होकर ही जाता है। समस्या का समाधान उसी स्तर से होना चाहिए जिस स्तर से वह प्रारम्भ होती है। समस्या के मूल को नष्ट करने के लिए सदैव मूल्यों की आवश्यकता होती है क्योंकि समस्या आज किसी बाहरी साम्राज्यवाद की नहीं है, अपितु उस वैचारिक शिथिलता की है जिससे मानसिकता ग्रस्त हो चुकी है। फलस्वरूप सतत निगरानी के अभाव में व्यक्तिगत दुर्बलताएँ राष्ट्रीय स्तर की चुनौतियों का कारक बन जाती हैं। साथ ही सम्पूर्ण राजनीतिक समाज की भागीदारी भी प्रभावित होती है। भारत के परम्परागत चिंतन में यही बताया गया है कि सम्पूर्ण समाज की मूल इकाई व्यक्ति है। गाँधी जी की 'वृत्त अवधारणा' में समाज का मौलिक परिवर्तनकर्ता व्यक्ति है इसलिए

परम्परागत राजनीतिक दर्शन व्यक्ति की अभिवृत्ति को बदलने एवं संयमित करने पर पर्याप्त बल देता है। यही सत्य है कि व्यवस्था का स्वरूप कैसा होगा, वह समाज की प्रगति में बाधा बनेगी या साधक बनेगी, इसका निर्णय उसका संचालन करने वाले व्यक्ति के ही हाथ में होता है। यदि व्यक्ति के अन्दर उपभोगवादी मानसिकता पल रही है तो हर संवैधानिक संस्था उसके लालच का शिकार होगी और कभी भी राजनीतिक मूल्यों की स्थापना नहीं हो सकेगी। वर्तमान सदी में व्यक्ति का यही नैतिक पतन हो चुका है इसलिए हर संवैधानिक संस्था अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में संघर्ष कर रही है। फलस्वरूप नियमितीकरण के लिए कानून और दंड प्रणाली पर निर्भर रहना पड़ता है जो सुधार के लिए लम्बी औपचारिक प्रणाली से गुजरती है। आज जहाँ पूरी दुनिया इतनी तीव्र गति से चल रही हो वहाँ सबके समान स्तर पर खड़े रहने के लिए उन्हीं अव्यवस्थाओं को जीवन का हिस्सा मानकर व्यक्ति स्वयं को समायोजित कर लेता है। कोई सुधार नहीं कर पाता है। इसलिए नयी अवसंरचनाएँ व्यक्ति की स्वार्थपरायणता, पदलोलुपता एवं अवसरवादिता का हिस्सा न बन जाये इसके मार्गदर्शन के लिए एवं मौलिक सुधार करने हेतु आजादी के इस अमृत काल में परम्परागत राजनीतिक दर्शन एवं मूल्यों की यह ज्ञान परंपरा आज भी प्रासंगिक है। जयप्रकाश नारायण 'फ्रॉम सोशलिज्म टू सर्वोदय' में लिखते हैं कि "लोकतंत्र की समस्या मूलतः नैतिक समस्या है जब तक राजनीतिक व्यवस्था और जनता नैतिक नहीं होती, लोकतंत्र अपने लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकता।"

सन्दर्भ सूची –

1. जैन, पुखराज एवं वाजपेयी, अरुणोदय। (2022)। राजनीतिक सिद्धांत एवं अवधारणाएँ। आगरा: साहित्य भवन प्रकाशन।
2. वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद। (2009)। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन। आगरा: लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन।
3. पुरोहित, आर. बी. (2019)। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन। जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी।
4. सूद, ज्योति प्रसाद। (2019)। आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास। मेरठ: के. नाथ एंड कंपनी।
5. बेनीवाल, एन. एल. (2021)। भारतीय राजनीतिक चिंतन। सीकर: कलाम प्रकाशन।
6. सौरभ, शशि। (2026)। "भारत में मानव सुरक्षा के समक्ष सामाजिक-सांस्कृतिक चुनौतियाँ।" इंटरनेशनल जर्नल ऑफ क्रिएटिव रिसर्च थॉट्स, 14(2)।
7. अली, मुख्तार। (2017)। भारतीय राजनीतिक विचारक। राजस्थान: जैन विश्व भारती संस्थान एवं नालंदा ऑफसेट प्रकाशन।
8. आर्य, अशोक। (2022)। "भारतीय राजनीति में नैतिकता एवं मूल्य।" इंटरनेशनल जर्नल ऑफ ह्यूमैनिटीज एंड सोशल साइंस, 27(8), 77–81।
9. दाधीच, नरेश। (2015)। समसामयिक राजनीतिक सिद्धांत। जयपुर: रावत प्रकाशन।
10. फडिया, बी. एल. (2022)। भारतीय राजनीतिक चिंतन। आगरा: साहित्य भवन प्रकाशन।